

आर्थिक आत्मनिर्भरता और स्त्री-जीवन

शशि

शोधार्थी- भारतीय भाषा केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

“पढ़ा गया हमको
जैसे पढ़ा जाता है कागज
बच्चों की फटी कॉपियों का
'चनाजोरगरम' के लिफाफे के बनने से पहले!
देखा गया हमको
जैसे कि कुपत हो उनींदे
देखी जाती है कलाई घड़ी
अलससुबह अलार्म बजने के बाद !
सुना गया हमको
यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फिल्मी गाने
सस्ते कैसेटों पर
ठशाठस्स तुंसी हुई बस में !
श्रोगा गया हमको
बहुत दूर के रिश्तेदारों के दुःख की तरह
एक दिन हमने कहा-
हम भी इन्सान हैं
हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसे पढ़ा होगा बी. ए. के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन”- (अनामिका)

अनामिका जी की यह कविता स्त्री जीवन के विभिन्न गाँठों को खोलती नजर आती है। आज स्त्री पितृसत्तात्मक समाज द्वारा बनाये गए ढांचे में नहीं बंधना चाहती बल्कि आज वह उन्हें कायदा सिखा रही है कि स्त्रियों को कैसे देखा और समझा जाए। आज की स्त्री शिक्षा ग्रहण कर आर्थिक रूप से सक्षम हो गई है। पहले जहाँ उन्हें सपने देखने का भी अधिकार नहीं था आज वह सपने देख ही नहीं रही बल्कि उन सपनों को पूरा भी कर रही है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को स्वतंत्रता का अधिकार था ही नहीं। बचपन में वह पिता के संरक्षण में तो जवानी में भाई या शादी के बाद पति की जिम्मेदारी तथा बुढ़ापे में बेटे की जिम्मेदारी। उन्हें कभी भी एक स्वतंत्र मनुष्य की तरह नहीं देखा गया। उन्हें किसी चीज की ज़रूरत होती तो उन्हीं से

कहती, लेकिन आज स्त्री अपने अधिकारों और ज़रूरतों के लिए किसी के सामने हाथ नहीं फैला रही बल्कि अपनी ज़रूरतों को स्वयं पूरा कर रही है। क्योंकि आज की स्त्री आर्थिक रूप से मजबूत हो गई है। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाये खड़ी है।

भारतीय समाज-व्यवस्था में स्त्री की पराधीनता को लेकर मेरे मन में कई तरह के सवाल उठते रहे हैं। जैसे- एक लड़की के जन्म पर परिवार या समाज वाले दुःखी क्यों हो जाते हैं? लड़कियों को लड़कों के समान खाने-पीने, घूमने-फिरने, हँसने-बोलने या फिर पढ़ने-लिखने की आजादी क्यों नहीं दी जाती? क्यों उनके क्रिया-कलाप, हाव-भाव या फिर उनके बाहर आने-जाने पर निगरानी रखी जाती है? क्यों घर-परिवार

या बच्चों के लिए खटती औरत, पति के लात-घूंसे सहती है? एक पुरुष के लिए जो नैतिक है, वह स्त्री के लिए अनैतिक क्यों है? आखिर क्यों स्त्रियों की सुन्दरता के सारे प्रतिमान उसकी देह की पवित्रता को लेकर ही होता है? ऐसे ही न जाने कितने अनगिनत सवाल हैं, जो मेरे मन को कुरेदते रहते हैं।

भारतीय समाज में स्त्रियों की दयनीय दशा का एक बहुत बड़ा कारण उनका आर्थिक रूप से निर्भर न होना है। हमारे भारतीय समाज में ज्यादातर स्त्रियाँ आर्थिक जरूरतों के लिए पूर्ण रूप से पुरुषों पर ही निर्भर होती हैं, यहाँ तक कि उनका जीवन-यापन भी पुरुषों द्वारा होता है। घर की सारी जिम्मेदारी स्त्रियों के हाथ में होती है, जैसे- खाना बनाना, घर साफ-सुथरा रखना, बच्चों की देख-भाल करना और पति की सेवा करना। आज भी इसमें कोई बदलाव नहीं नजर आता। पुरुष का काम बाहर नौकरी कर लाभ कमाना है, क्योंकि इस पितृसत्तात्मक समाज में घर का मुखिया पुरुष ही है, जो पूरे घर की बागडोर अपने हाथों में लिए रहता है। उनके लिए तो स्त्री एक कठपुतली है जिसे जैसे चाहें वैसे नचा दें। जब तक स्त्री आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नहीं हो जाती, तब तक वह अपने घर-परिवार में सशक्त रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर होना ही स्त्रियों के पिछड़ेपन और शोषित होने का कारण है। अतः आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता स्त्री स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण बिंदु है लेकिन इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए समाज में कई तरह की अड़चनें दिखाई देती हैं। आर्थिक रूप से पिछड़े भारत जैसे देश में जहाँ पुरुष श्रमिकों की संख्या बहुत अधिक है और बेरोजगारी की समस्या उससे भी बड़ी है, वहाँ स्त्रियों को रोजगार के अवसर मिल पाना बहुत ही मुश्किल है। जिन स्त्रियों को श्रम मिल जाता है वह अशिक्षा और अकुशलता की शिकार हैं। ऐसे में स्त्रियाँ पुरुषों से आर्थिक मुकाबले के क्षेत्र में कहाँ तक टिक पायेंगी? यह अपने आप में एक विचारणीय प्रश्न है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय समाज में नारी की आर्थिक स्थिति दयनीय रही है। वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी जीविका के लिए पुरुष वर्ग पर ही आश्रित रही है। हिंदी साहित्य में लेखकों ने इन सवालों को अपने उपन्यास और कहानियों के माध्यम से भी उठाया है। सुरेन्द्र वर्मा द्वारा रचित 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास की नायिका 'वर्षा वशिष्ठ' अपने व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास के लिए आत्मनिर्भर बनना चाहती है। वह अपने पैरों पर खड़ी होने के लिए साधन हासिल करना चाहती है। अंततः वह जिंदगी के सारे साधन हासिल भी कर लेती

है, पर अत्यधिक संघर्षों के बाद वह ट्यूशन करके, नौकरी करके, पुरस्कारों में प्राप्त रूप से अपने परिवार की आर्थिक सहायता भी करती है। वर्षा की आर्थिक रूप से मजबूती, परिवार व समाज में उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ा देती है। अब उसके परिवार के लोभ शादी करने को नहीं कहते। अब वह अपने व्यक्तित्व के स्वच्छंद विकास के लिए स्वतंत्र है। वर्षा वशिष्ठ दिल्ली व बम्बई जैसे शहरों में मुक्त जीवन जीने में सफलता अर्जित करती है। यह संभव इसलिए हो पाता है कि वह एक तरफ तो अपने-आपको आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बना लेती है, दूसरी तरफ अपने-आपको परिवार से दूर रखती है।

भारतीय समाज में 50-60 के दशक में प्रायः यही समझा जाता था कि आर्थिक आत्मनिर्भरता ही पुरुष वर्चस्व से मुक्ति का एक मार्ग है। यदि स्त्री आर्थिक रूप से अपने आप पर निर्भर हो जाये तो पुरुष और समाज द्वारा थोपी गई रुद्धियों और बन्धनों से उसे मुक्ति मिल सकती है। स्त्रियों की आर्थिक स्थिति को लेकर एलीनार मार्क्स और एडवर्ड एवेलिंग का भी मानना है कि "हमारे जटिल समाज में हर चीज की तरह स्त्रियों की हैसियत भी एक आर्थिक बुनियाद पर टिकी होती है।" परन्तु समय के साथ-साथ यह महसूस किया गया कि हमारे सामाजिक-पारिवारिक बनावट में ही कुछ ऐसा है कि आर्थिक स्वतंत्रता के बावजूद भी स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष नहीं माना जाता। उषा प्रियंवदा ने इस सामाजिक मिथक को पूर्ण यथार्थ के साथ चूर-चूर कर दिया। उन्होंने सुषमा के जीवन के उतार-चढ़ाव से दिखलाया है कि स्त्रीमुक्ति या स्त्री-स्वतंत्रता का एक मात्र उपादान आर्थिक आत्मनिर्भरता नहीं है। 'पचपन खमभे लाल दीवारें' की नायिका सुषमा दिल्ली के एक महिला महाविद्यालय में न केवल एक अध्यापिका है, बल्कि छात्रावास की वार्डन भी है। कॉलेज प्रशासन की तरफ से उसे रहने के लिए उत्तम आवासीय सुविधा प्रदान की गई है। आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो उसकी स्थिति कमजोर नहीं है, फिर भी स्वतन्त्र रूप से अपने इच्छानुसार उसे जीवन जीने की छूट नहीं मिलती है। पण-पण पर पारिवारिक उत्तरदायित्व, सामाजिक मान-मर्यादाएं एवं आचार-विचार उसके जीवन में रोड़े बनते हैं। सुषमा घर की बड़ी बेटी होने के नाते अपने परिवार एवं सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूक है, वह अपने परिवार के लिए स्वयं को मिटा देती है। अपने अवकाश प्राप्त पिता के बुढ़ापे को सुखद बनाने तथा छोटे भाई-बहनों के भविष्य को उज्ज्वल बनाने लिए अपने प्रेम और यौवन के रंगीले स्वप्नों का गला घांट देती है। कर्तव्यबोध के नाम पर उत्तरदायित्वों को संभालते हुए

श्री एकांत क्षणों में उसका मन घरवालों के प्रति उपालम्भ से भर उठता है - “यदि पिता जी चाहते तो क्या उसका विवाह नहीं कर सकते थे। लोण लाख प्रयत्न कर बेटी के ब्याह का सामान जुटाते हैं। क्या उसी के पिता अनोखे थे? बात असल यह थी कि उन्होंने चाहा ही नहीं कि सुषमा की शादी हो, उनके अंतर्मन में यह बात अवश्य होगी कि सुषमा से उन्हें सहारा मिलेगा।”

आर्थिक रूप से सशक्त होने के बाद श्री स्त्रियाँ अप्रत्यक्ष रूप से शोषण का शिकार होती हैं। ‘एक जमीन अपनी’ में चित्रा मुद्गल ने स्पष्ट कहा है कि विज्ञापन की चकाचौंध वाली दुनिया में जितना हिस्सा पूंजी का है, शायद उससे कम हिस्सेदारी स्त्री की नहीं है। ‘एक जमीन अपनी’ विज्ञापन की उस दुनिया की कहानी है, जहाँ पर समाज की इच्छाओं को बढ़ाने के लिए औजार तैयार किये जाते हैं और स्त्री के उस संघर्ष की भी जो वह इस दुनिया में अपनी रचनात्मक क्षमता की पहचान अर्जित करने और सिर्फ देह भर न रहने के लिए करती है।

श्रीष्म साहनी ने अपने उपन्यास ‘बसंती’ के माध्यम से निम्नवर्गीय स्त्री के सामाजिक और आर्थिक पक्ष को रेखांकित किया है। बसन्ती एक ऐसी लड़की है, जो निम्नवर्गीय सामाजिक परिवेश से आती है तथा उस पितृसत्तात्मक परिवेश के खिलाफ विद्रोह की चिंगारी फूंक जाती है - “जिसे अपने हाथ की कमाई पर नाज है, और जो खुद किसी पर कभी आश्रित नहीं रही बल्कि घरों में चौका-बर्तन करके स्वयं दूसरों को पालने वाली औरत है। वह सारे सामंती और पूंजीवादी मूल्यों और संस्कारों पर बेरहमी और साहस के साथ प्रहार करती है। मर्द और औरत के रिश्तों, परिवार तथा सांप्रदायिक जीवन के शोषण और तमाम दमनकारी शक्तियों को बसन्ती जैसी दृढ़ता के साथ चुनौती देती है, वह हिन्दुस्तान में सर्वथा नई स्त्री की उभरती शक्ल है - सारे पतनशील सामाजिक सम्बन्धों और आर्थिक दासता के बन्धनों को तोड़ती हुई बराबरी के दावेदार के रूप में। लेकिन इस चूटानी दृढ़ता के नीचे बसन्ती एक निहायत कोमल और अपनी जड़ों तक मानवीय चरित्र भी है, जिसकी सभी खूबियों का श्रीष्म जी ने अपनी पूरी कलात्मक सामर्थ्य और सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ सफल चित्रांकन किया है।” श्रीष्म साहनी बसंती के माध्यम से स्त्री की आत्मनिर्भरता को रेखांकित करते हैं कि कैसे वह पितृसत्तात्मक समाज द्वारा बनी-बनाई परम्परावादी मानसिकता को तोड़ती है और अपने दम पर अपने परिवार का भरण-पोषण करती है।

पूंजीवादी व्यवस्था के आ जाने के कारण और समाज में आधुनिकीकरण के कारण सभी वर्ग की स्त्रियों को घर से बाहर

निकलने का मौका मिला और वह सक्षम हो विभिन्न कार्यक्षेत्रों में अपनी उपस्थिति भी दर्ज कराई। पूंजीवाद के विभिन्न चरणों में बाजार के फायदे के लिए स्त्री के श्रम को घर के दायरे से बाहर निकालने की शुरुआत हुई, लेकिन स्त्री की मुक्ति अपनी सम्पूर्णता में कभी नहीं प्राप्त हो सकी। हमारे समाज में पुरुषों की ज्यादा महत्ता है इसलिए स्त्रियों के लिए ज्यादा जगह नहीं निकली, फिर भी ईटा-गारा ढोने वाली मजदूर स्त्रियों से लेकर देश के उच्च और प्रतिष्ठित पदों तक स्त्रियों ने अपना अधिकार जमाया। शीना देवी ने समकालीन हिंदी उपन्यासों में स्त्री नामक शोध-ग्रंथ में स्पष्टतः उल्लेख किया है कि उच्च पदों पर प्रतिष्ठित स्त्रियाँ आर्थिक रूप से आत्मसंपन्न तथा चेतनशील भी हैं, लेकिन वहाँ भी स्त्री होने की कीमत उन्हें चुकानी ही पड़ती है। जैसे - “भारत की पहली आई. ए. एस. अफसर ‘अन्ना मल्होत्रा’ को साक्षात्कार समिति से लेकर मद्रास में तत्कालीन मुख्यमंत्री राजा जी ने स्त्री होने के कारण आई. ए. एस. पद की जिम्मेदारी न लेने की सलाह दी थी। उस जमाने में शादी के बाद स्त्री को आई. ए. एस. का पद त्याग करना पड़ता था। ‘किरण बेदी’ विश्वविख्यात आई. पी. एस. अधिकारी हैं तथा ‘कोकिला अय्यर’ देश की पहली विदेश सचिव स्त्री हैं। कई बार इन स्त्री अधिकारियों के कामों में अनावश्यक रूप से बाधा डालकर उन्हें महत्वपूर्ण जिम्मेदारियों से हटा दिया गया।”

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि समय बदलने के साथ स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ है, लेकिन प्रश्न अभी भी है कि उनकी आर्थिक संपत्ति पर अधिकार किसका है? क्या वह पूर्णरूप से स्वतंत्र हो उसका इस्तेमाल कर पा रही है? आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों की संख्या तो बढ़ी, लेकिन उसके साथ-साथ उनकी दोहरी जिम्मेदारियाँ और परेशानियाँ भी बढ़ी हैं। आज स्त्री अपनी परम्परावादी छवि को तोड़कर आगे बढ़ रही है। वह घर और समाज की घेरेबंदी से अपने आप को आजाद कर कुछ कर दिखाने को स्वतंत्र नजर आ रही है। हर क्षेत्र में देखा जाए तो स्त्रियों ने धीरे-धीरे अपने कदम भी बढ़ाये हैं, लेकिन उनकी संख्या आज भी पुरुषों के मुकाबले कम है। समाज में कोई चीज अचानक ही नहीं बदल जाती। उसी प्रकार स्त्रियाँ भी आर्थिक रूप से सक्षम होने के निरंतर प्रयास कर रही हैं। इस सन्दर्भ में सुभाष शर्मा का कथन उल्लेखनीय है। आज उन्हें यह एहसास हो गया है कि “आर्थिक स्वतन्त्रता आत्मनिर्भरता की एक जरूरी शर्त है। अतः ऐसे प्रयास अंततः लाभदायक क्रिया-कलापों तक स्त्रियों की बढ़ती पहुँच पर केन्द्रित होने चाहिए। वस्तुतः स्त्रियों की परेशानियों का निदान आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता में ही निहित है”।